

बाल साहित्य : खुद के बहाने एक बहस

□ पंकज पराशर

जब हम बाल साहित्य की चर्चा करते हैं तो तुरन्त यह सवाल उठता है कि जिन बच्चों के लिए हमें शिद्दत से बाल साहित्य की जरूरत महसूस हो रही है, वे बच्चे किस वर्ग (क्लास) और किस परिवेश से ताल्लुक रखते हैं ? दूसरा सवाल यह उठता है कि बाल साहित्य की कथित शोचनीय स्थिति के पीछे साहित्यकारों की उदासीनता/अन्यमनस्कता ही है या कोई और कारक तत्व हैं ? इन दिनों महानगरों और बड़े-बड़े नगरों में 'हैरी पॉटर' किताब के लिए जो बच्चे 'बुक शॉप' के बाहर 'क्यू' में खड़े प्रतीक्षातुर दिखाई देते हैं, वे किस वर्ग के बच्चे हैं और खरीदने के बाद क्या वाकई उसी तन्मयता से ये बच्चे पढ़ेंगे भी ? बाल साहित्य पर सोचते हुए इन प्रश्नों पर ज्यादा गहराई से सोचने की जरूरत है।

एक तरफ विकास के इतने बड़े-बड़े दावे किए जा रहे हैं, दूसरी तरफ सच्चाई यह है कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की स्थिति पहले के मुकाबले और बदतर हुई है। देश के 53 फीसदी बच्चे कक्षा आठ तक की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते (80 फीसदी दसवीं कक्षा तक की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते)। दूसरी ओर सर्व शिक्षा अभियान जैसे कार्यक्रम के तहत 'स्कूल वापस चलो' शिविर में चंदेक हफ्तों के लिए बच्चों को बुलाकर उनको स्कूल में दर्ज मान लिया जाता है। यदि वे शिविर की भ्रामक सीढ़ी चढ़कर कक्षा एक में पहुंच जाते हैं तो उन्हें स्कूल एवं प्रशिक्षित अहर्ता प्राप्त शिक्षक नहीं मिलते। सरकार ने स्वीकार किया है कि छह से चौदह आयु वर्ग के 19 करोड़ बच्चों को दिसम्बर 2003 तक स्कूल पहुंचाने

में लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सका है।

मैं जहां पैदा हुआ, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा जहां मैंने ग्रहण की - उस इलाके की शिक्षा व्यवस्था आज और खराब स्थिति में पहुंच गई है। पहले विद्यालय बड़ा था, शिक्षकों की संख्या तीन थी और आज हैं सिर्फ एक। भवन के नाम पर मात्र एक कमरा है। जबकि बच्चों की संख्या में इजाफा ही हुआ है। एक ही शिक्षक सब कुछ पढ़ाने और पंचायत के नए-नए सदस्यों के हाथों अपमानित होने के लिए अभिशप्त है। बच्चे स्कूल से छूटने के बाद घर के कामों में, खेतों में हाथ बंटते हैं और दसवीं तक अगर किसी तरह खींच ले गए तो उसके तत्काल बाद शादी और कमाने के लिए गांव से दिल्ली-पंजाब-हरियाणा-गुजरात आदि राज्यों की ओर पलायन। मेरे अधिकांश प्राथमिक/माध्यमिक स्कूल के सहपाठियों के संग यही हुआ-आठवीं बाद शादी हुई और पढ़ाई छूट गई।

तो साहब, हमें दसवीं कक्षा तक पता ही नहीं चला कि ये बाल साहित्य है क्या बला ? आज के ग्रामीण अंचलों के बच्चों को भी यह नहीं पता है कि बाल साहित्य होता क्या है। हां, किसी-किसी गांव में बिजली आने के कारण टी.वी. आ जाने से बच्चे फिल्मों, फिल्मी कहानियों की बातें जरूर जान गए हैं, लेकिन बाकी चीजों के बारे में अनजान हैं। तब उसका अर्थ यह है कि बाल साहित्य की हमारे यहां कोई परंपरा नहीं है ? यह आंशिक तौर पर सत्य है। नानी-दादी के मुंह से हमने हजारों कहानियां सुनी हैं - अक्सर रात को सोते समय। गोनू झा, अकबर-बीरबल के किस्से,



रामायण, महाभारत, तरह-तरह के राजा-रानियों की कहानियां हम लोगों ने सुनी हैं और स्कूल में अपने साथियों को सुनाई हैं। उनसे भी सुनी हैं। इस तरह हमारे मस्तिष्क में सैकड़ों कहानियां जमा होती गईं, बावजूद उसके कहानियां सुनने के प्रति ललक कम नहीं हुई। कमोबेश हर ग्रामीण अंचल की आज भी यही स्थिति है। इन किस्से-कहानियों को यदि हम बाल साहित्य मान लें और इसी को परंपरा मान लें तो हम बच्चों के जीवन में यही था बाल साहित्य। यही थी हमारी परंपरा।

उस जमाने में नागराज, बांकेलाल आदि सीरिज में कॉमिक्स बिकता था - गांव में, देहाती दुकानों में नहीं, सिर्फ शहरों में। जिसे किसान-मजदूर का बच्चा खरीद पाने की हिम्मत ही नहीं बटोर पाता। एक बार पढ़ लेने के बाद उसे सहेज कर रखने की कोई जरूरत ही महसूस नहीं होती थी। कॉमिक किराए पर भी मिलता था, बीस-पच्चीस पैसे रोजाना के किराए पर। लेकिन यह सुविधा भी सिर्फ शहरी बच्चों को ही उपलब्ध थी। 'चंपक', 'नंदन', 'चंदामामा', आदि पत्रिकाओं का हमने नाम भी नहीं सुना था। और साहिबो, इतने बरसों के बाद आज की स्थिति इससे भिन्न नहीं है। गांव-देहात के बच्चे गरीब माता-पिता की संतान होने के कारण इन पत्रिकाओं को खरीदने की हैसियत न तब रखते थे, न आज रखते हैं। कोई यदि चाहे भी खरीदना, तो उपलब्ध नहीं होती हैं। हमारे लिए किसी ने बाल पत्रिकाएं कभी नहीं खरीदीं। इतना महंगा शौक पालने की स्थिति में हम लोग नहीं थे। बाल साहित्य के नाम पर लिखित बाल साहित्य नहीं था हमारे जीवन में। हम जैसे करोड़ों बच्चों के लिए आज भी स्थिति तकरीबन ऐसी ही है।

बच्चों के लिए छपने वाली पत्रिका खरीदते थे सरकारी बाबू, चपरासी, गांव के बड़े सामंत। अपने बच्चों के लिए हिन्दी की बाल पत्रिका खरीदना विशिष्ट होने की निशानी और मजबूरी दोनों एक साथ थी। अपने हाकिमों के बच्चों से बराबरी के लिए वे पत्रिका खरीदते थे और अंग्रेजी नहीं जान सकने, मंहगे कॉन्वेंट स्कूल में बच्चे को नहीं पढ़ा सकने की वजह से अंग्रेजी की बाल पत्रिका नहीं खरीद पाते थे। उच्च वर्गों के बच्चे तब भी अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढ़ते थे। बचपन से बड़े शहरों में रहने के आदी थे। वे हिन्दी बाल पत्रिका (बेहतर क्रय शक्ति के बावजूद) भला क्यों खरीदते ? विशिष्ट वर्गों ने अपनी विशिष्टता की रक्षा के लिए अपना स्कूल

भी औरों से अलग रखा हुआ था और अपनी तहजीब, तौर-तरीके और बाल साहित्य भी। देश की खुली अर्थव्यवस्था के कारण जो नवधनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है उनके बच्चों की मातृभाषा तक अंग्रेजी है। ये बच्चे 'हैरी पॉटर' पढ़ने वाले बच्चे हैं, जिनके लिए हिन्दी में छपे बाल साहित्य का क्या मतलब है ? और यदि गलती से उसमें गांव के रहन-सहन का जिक्र हो तो दस प्रतिशत भी कथा संप्रेषित होगी कि नहीं - कहा नहीं जा सकता। जो बच्चे यही नहीं जानते कि गांव होता क्या है वे भला गांव की बातें क्या समझेंगे। जबकि बाल साहित्य अधिकांशतः ग्रामीण जीवन से संबंधित होता है।

जो माता-पिता और बच्चे हिन्दी में छपी बाल पत्रिका, बाल-साहित्य खरीदते थे, आज अगर जनसंख्या के अनुपात में देखें तो उसमें भी भारी गिरावट आई है। औपनिवेशिक मानसिकता से आक्रांत लोग पहले भी थे, धनाढ्य वर्ग के लोग उस समय भी थे, लेकिन इतनी अश्लील प्रदर्शनकारी प्रवृत्ति उस वक्त नहीं थी। समाज इतना व्यक्ति केन्द्रित और आत्मकेन्द्रित नहीं था। जिसके कारण अंग्रेजी, अंग्रेजी ज्ञान के प्रति इतना पागलपन उस वक्त नहीं था। पड़ोसियों, धनिकों, अफसरों से तुलना करने की आदत लोगों में तब जरा कम थी। इस वजह से निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग के लोग अपने बच्चों को हिन्दी बाल पत्रिका, बाल साहित्य खरीदकर देते थे। अब इस वर्ग में भी अंग्रेजी पढ़ने की आदत फैलती जा रही है। गली-मोहल्ले में खुल रहे कॉन्वेंट स्कूलों ने इन लोगों की आकांक्षा पूरी कर दी है। ये लोग भी उच्च वर्ग से होड करने की स्थिति में खुद को समझने लगे हैं - जिसके कारण पूरी तरह समझ में आए या नहीं, पढ़ेंगे अंग्रेजी का ही अखबार। खरीदेंगे अंग्रेजी में ही छपे बाल साहित्य। जिसके कारण साक्षरता बढ़ने के बावजूद एक बड़ा पाठक वर्ग अंग्रेजी में शिफ्ट होता चला गया और आज भी यह क्रम अनवरत जारी है। इसलिए हिन्दी बाल साहित्य और बाल पत्रिका के पाठक बढ़ने के बजाए कम होते जा रहे हैं।

हिन्दी क्षेत्र में बाल साहित्य की स्थिति अन्य क्षेत्रों के मुकाबले ज्यादा खराब है। इसकी वजह यह है कि हिन्दी किसी भी गांव की भाषा नहीं है। बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उसकी भाषा में नहीं दी जाती। राजस्थान से लेकर बिहार तक एक ही भाषा और एक ही माध्यम से शिक्षा दी जाती है। हिन्दी को भी सीखकर बच्चे अर्जित करते हैं। पांचवीं तक उन्हें अंग्रेजी की ए.बी.सी.डी. भी नहीं सिखाई



जाती, लेकिन छठी में जाते ही अंग्रेजी की एक किताब लाद दी जाती है। फिर यह होता है कि बच्चा अंग्रेजी के नाम से ही भागने लगता है। आगे चलकर जब खर्चीली शिक्षा और उच्च शिक्षा में अंग्रेजी के प्रभुत्व को कोई ग्रामीण बच्चा देखता है, तो वह दसवीं के बाद ही मैदान छोड़कर भाग जाता है जबकि बंगाल, केरल, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु में प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में दी जाती है और वहां शुरू से ही अंग्रेजी पर अधिक ध्यान दिया जाता है। मातृभाषा का ज्ञान हो जाने मात्र से भी उन लोगों का काम चल जाता है। जबकि हिन्दी क्षेत्र का बच्चा मातृभाषा मात्र का ज्ञान पाकर किसी काबिल नहीं बन सकता। हिन्दी प्रक्षेत्र के बच्चे को शिक्षा देंगे मातृभाषा से इतर भाषा में, बाल साहित्य देंगे मातृभाषेतर भाषा में तो वह उस तरह से कभी जुड़ाव महसूस नहीं करेगा। गांव की बोली में किसी कथा को सुनकर पढ़कर जितना उसे आनंद आया, उतना शायद हिन्दी में आनन्द नहीं आए।

जो बच्चे बाल साहित्य के पाठक हो सकते थे, उनके माता-पिता की क्रय शक्ति तब भी बहुत कमजोर थी और आज भी है। जो कुछ बाल साहित्य के नाम पर उपलब्ध है वह अभी भी गरीब लोगों के लिए खरीद पाना आसान नहीं है। जानकारी के अभाव, अनुपलब्धता और महंगे होने के कारण हिन्दी के बाल साहित्य को जहां पहुंचना था, वहां अभी भी पहुंच नहीं सका है और दुखद यह है कि लोगों में पहुंचाने की इच्छाशक्ति भी दिखाई नहीं दी। यदि गांव-देहात तक सस्ते दामों में बाल साहित्य पहुंचाया जाए तो निराशा के बादल तुरन्त छंट जाएंगे। यह काम प्रकाशन विभाग और नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी संस्था से संभव था, मगर उन्हें गंभीर साहित्य से वक्त ही नहीं मिलता।

बंगला में जो लेखक बच्चों के लिए नहीं लिखते उन्हें लेखक ही नहीं माना जाता। इसलिए बड़े से बड़ा लेखक भी बच्चों के लिए लिखता है और खुशी-खुशी लिखता है। एहसासे - कमतरी वाली कोई बात उनके मन में नहीं होती। उन्हें बाल साहित्य लिखने पर पैसा और प्रसिद्धि दोनों मिलती है। पुरस्कार मिलते हैं नियमित रॉयल्टी मिलती है। जबकि हिन्दी में जो लोग बाल साहित्य रचते हैं उन्हें न पैसा मिलता है और न प्रसिद्धि। किताबें यहां-चूँकि नहीं बिकती, इसलिए प्रकाशक किसी रचना को छापकर ही लेखक पर एहसान का बोझ लाद देता है। सत्य का यह भी एक पहलू है कि किताब कविता की भी नहीं बिकती। कविता-संग्रह छापने के लिए प्रकाशक कई बार सोचता है, जबकि उपन्यास तुरन्त छाप देता है। कविता लिखकर कवि को धन भले न मिले, मगर प्रसिद्धि तो बिला-शक मिलती है। लेकिन बाल साहित्य के लेखक को यह भी

नहीं मिलती। बांगला, मलयालम वालों के साथ ऐसी बात नहीं है वहां दोनों मिलता है।

पंचतंत्र की कथाएं, जातक-कथा आदि की पहुंच भी ग्रामीण बच्चों तक उस रूप में नहीं हुई है। पाठ्यपुस्तकों का आलम यह है की चौथी-पांचवी, कक्षा में प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह', 'नमक का दारोगा', 'बूढ़ी काकी' आदि लगा देते हैं और अपेक्षा रखते हैं बच्चे उसी तरह इन कहानियों में रस लें जिस तरह बी.ए. एम.ए. के विद्यार्थी रस लेते हैं। शायद यही कारण है कि यही कहानियां बच्चों की किताब और एम.ए. के पाठ्यक्रम में एक साथ रखने का प्रचलन आज भी पूरे देश में है। ऐसे में बच्चे यदि साहित्य के नाम से ही भागते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य! आखिरकार दोषी हम सब हैं।

बाल साहित्य की आज जो बुरी स्थिति है, उसके पीछे एक बड़ा कारण यह है कि बच्चों के पास भी समयाभाव है। शहरी और ग्रामीण दोनों बच्चों के जीवन में समय का अभाव कई कारणों से है। शहरी बच्चे अपने होमवर्क और बस्ते के बोझ से दबे हुए हैं। ऊपर से माता-पिता की आकांक्षाओं के बोझ तले दबे जा रहे हैं। स्कूल की पढ़ाई से अलग यदि कुछ पढ़ते भी हैं तो अभिजात्य होडवाली संस्कृति के दबाव में अंग्रेजी की बाल पत्रिकाएं, बाल साहित्य। जबकि गांवों की माली हालत लगातार खराब होती जा रही है, भविष्य लगातार घट रहा है, असुरक्षित होता जा है। इसलिए बच्चे पढ़ाई के साथ खेती-बाड़ी का काम भी लगातार करते हैं और पेट उन्हें इतना विवश कर देता है कि वे पढ़ाई की उम्र में ही शहर जाकर काम ढूंढने लगते हैं। पढ़ाई के दरम्यान सबक याद नहीं करने के मसले पर भयंकर पिटाई होती है जिसके कारण बच्चा पिटाई के खौफ से भयभीत रहता है और हमेशा अपनी किताब में ही डूबा रहना चाहता है। बाहर घूमना, कोर्स से बाहर की चीजें पढ़ना उसके लिए स्वप्न बनकर रह जाता है।

हमारे बचपन में बाल साहित्य नाम की कोई चीज नहीं थी। बाल पत्रिकाओं के बारे में हमें कुछ भी पता नहीं था। लेकिन हमारे बुजुर्गों ने परंपरा से प्राप्त हजारों कहानियां हमें सुनाई थी। स्मृति कोष में सुरक्षित अपनी विरासती बाल-कथाएं हमें सौंपी थीं। हमारा साहित्यिक, सांस्कृतिक बोध इसी से विकसित हुआ था। मगर आज के आत्मकेन्द्रित समाज और एकल परिवार में किसके पास बची है बुजुर्गों की यह थाती - क्या हम वह सब भी अपने बच्चों को दे सकने में समर्थ हैं। जो हमें मिला ? कैसी बिडंबना है कि नया रच नहीं पा रहे, रचते हैं तो उन तक पहुंचा नहीं पाते और जो कुछ पुराना था वह सारा नष्ट होता चला जा रहा है। स्मृति कोष से मिट रहा है - अनुपयोगी बना दिए जाने के कारण। ♦

